४०. अमतं सन्ति निव्वाण पदमच्चुतं—सुत्तनिपात-पारायण वग्ग, अनु० भिक्षु धर्मरत्न, प्रका०, महाबोधिसभा, बनारस १९५०।
४१. पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं—धम्मपद, अनु० पं०राहुल सांकृत्यायन, ३६८।
४२. इत्तिवुत्तक, धर्मरक्षित, प्रका०, महाबोधि सभा, सारनाथ बुद्धाब्द, २४९९, २/२/६।
४३. विशुद्धिमग्ग, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, प्रका०, महाबोधिसभा, वाराणसी १९५६, परिच्छेद १६, भाग २, पृ० ११९-१२१ (हिन्दी अनु० भिक्षु धर्मरक्षित)
४४. उदान, अनु०, जगदीश कश्यप, प्रका० महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, पाटलिग्राम वर्ग ८/१०।
४५. वही, ८/९।
४६. विशुद्धिमग्ग, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, परिच्छेद ८ एवं १६।
४७. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २९४ पर उद्धृत।
४८. उदान, अनु० जगदीश कश्यप, ८/१।
४९. मूल पाली में, यहाँ पाठान्तर है—तीन पाठ मिलते हैं १. अनत्तं २. अनत ३. अनन्तं। हमने यहाँ "अनन्त" शब्द का अर्थ ग्रहण किया है। आदरणीय काश्यपजी ने अनत (अनात्म) पाठ को अधिक उपयुक्त माना है लेकिन अट्ठकथा में दोनों ही अर्थ लिए गए हैं।
५०. उदान, अनु० जगदीश कश्यप, ८/३।
५१. यत्थ आपो न पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति ।। — वही,१/१०।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।
तुलना कीजिए—न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।
— गीता, वही, १/१० तथा गीताप्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, १५/६।

•

स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं सवस्त्र की मुक्ति का प्रश्न

यापनीय परम्परा के विशिष्ट सिद्धान्तों में स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थमुक्ति (गृहस्थमुक्ति) और अन्यतैर्थिकमुक्ति ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो उसे दिगम्बर परम्परा से पृथक् करती हैं। एक और यापनीय संघ अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) का समर्थक है, तो दूसरी ओर वह स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थ (गृहस्थ) मुक्ति, अन्यतैर्थिक (अन्यलिंग) मुक्ति आदि का भी समर्थक है। यही बात उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के समीप खड़ा कर देती है। यद्यपि स्त्रीमुक्ति की अवधारणा तो श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम साहित्य उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा आदि में भी उपस्थित रही है, फिर भी तार्किक रूप से इसका समर्थन सर्वप्रथम यापनीयों ने ही किया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीमुक्ति निषेध के स्वर सर्वप्रथम पाँचवीं-छठी शती में दक्षिण भारत में ही मुखर हुए और चूँकि यहाँ आगमिक परम्परा को मान्य करने वाला यापनीय संघ उपस्थित था, अत: उसे ही उसका प्रत्युत्तर देना पड़ा।

श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद की जानकारी यापनीयों से प्राप्त हुई। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने सर्वप्रथम इस चर्चा को अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में यापनीय तन्त्र के उल्लेख के साथ उठाया है। इसके पूर्व, भाष्य और चूर्णि साहित्य में यह चर्चा अनुपलब्ध है। अत: सर्वप्रथम तो हमें यह देखना होगा कि इस तार्किक चर्चा के पहले स्त्रीमुक्ति से समर्थक और निषेधक निर्देश किन ग्रन्थों में मिलते हैं। सर्वप्रथम हमें उत्तराध्ययनसूत्र के अन्तिम अध्ययन (ई० पू० द्वितीय-प्रथम शती) में स्त्री की तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[१] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा के अतिरिक्त यापनीय परम्परा में भी उत्तराध्ययन की मान्यता थी और उसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा उसमें लगभग नवीं शती तक जीवित रही है, क्योंकि अपराजित ने अपनी भगवतीआराधना की टीका में उत्तराध्ययन से अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो क्वचित् पाठभेद के साथ वर्तमान उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध हैं। समवायांग, नन्दीसूत्र आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में अंगबाह्य के रूप में, तत्त्वार्थभाष्य के साथ-साथ तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में एवं षट्खण्डागम की धवला टीका में भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उत्तराध्ययन का उल्लेख पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने उत्तराध्ययन को ई०पू० तृतीय से ई०पू० प्रथम शती के मध्य की रचना माना है। उत्तराध्ययन की अपेक्षा किंचित् परवर्ती श्वेताम्बर मान्य आगम ज्ञाताधर्मकथा (ई०पू० प्रथम शती) में मल्लि नामक अध्याय (ई० सन् प्रथम शती) में तथा अन्तकृद्दशांग के अनेक अध्ययनों में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख हैं।[२] आगमिक व्याख्या आवश्यकचूर्णि[३] (सातवीं शती) में भी मरुदेवी की मुक्ति का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ कषायप्राभृत एवं षट्खण्डागम भी स्त्रीमुक्ति के समर्थक हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक जैन परम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।[४] यद्यपि यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम भी सुत्तपाहुड का ही समकालीन ग्रन्थ माना जा सकता है, फिर भी उसमें स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूल ग्रन्थों में तो पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में चौदह गुणस्थानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सम्भावना स्वीकार कर प्रकारान्तर से उसकी तद्भव मुक्ति स्वीकार की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रीमुक्ति के निर्देश हमें ईस्वी पूर्व के आगमिक ग्रन्थों से लेकर ईसा की सातवीं शती तक की आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं। फिर भी उनमें कहीं भी स्त्रीमुक्ति की तार्किक सिद्धि का कहीं कोई प्रयत्न नहीं देखा जाता। इसकी तार्किक सिद्धि की आवश्यकता तो तब होती, जब किसी ने उसका निषेध किया होता। स्त्रीमुक्ति का निषेध कुन्दकुन्द के पूर्व किसी भी आचार्य ने किया हो, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है। यद्यपि यह विवाद का विषय रहा है कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की रचना है या नहीं। फिर भी एक बार यदि हम यह मान भी लें कि सुत्तपाहुड कुन्दकुन्द की ही रचना है, तो भी उस ग्रन्थ एवं उसके कर्त्ता का काल छठी शताब्दी के पूर्व का तो नहीं हो सकता, क्योंकि कुन्दकुन्द की रचनाओं में गुणस्थान और सप्तभंगी की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं जो लगभग पाँचवीं-छठी शती में अस्तित्व में आ चुकी थीं। एम० ए० ढाकी ने कुन्दकुन्द के समय पर पूर्व मान्यताओं की समीक्षा करते हुए विस्तार से विचार किया है और वे उन्हें छठीं शताब्दी के पूर्व का किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करते हैं।[५]

तत्त्वार्थभाष्य (लगभग चतुर्थ शती) में सिद्धों के अनुयोगद्वार की चर्चा करते हुए लिंगानुयोगद्वार की दृष्टि से भी विचार किया गया है।[६] भाष्य की विशेषता यह है कि वह लिंग शब्द पर उसके दोनों अर्थों की दृष्टि से विचार करता है। अपने प्रथम अर्थ में लिंग का तात्पर्य है—पुरुष, स्त्री या नपुंसक रूप शारीरिक रचनाएँ। लिंग के इस प्रथम अर्थ की दृष्टि से उसमें उत्तराध्ययन के समान ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिगों से मुक्ति का उल्लेख है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि प्रत्युत्पन्नभाव अर्थात् वर्तमान में काम-वासना की उपस्थिति की दृष्टि से अवेद अर्थात् काम-वासना से रहित व्यक्ति की ही मुक्ति होती है। किन्तु पूर्व भव की अपेक्षा से तो तीनों वेदों से सिद्धि होती है। साथ ही उसमें लिंग का अर्थ वेश करते हुए कहा गया है प्रत्युत्पन्न भव अर्थात् वर्तमान भव की अपेक्षा से तो अलिंग अर्थात् लिंग के प्रति ममत्व से रहित व्यक्ति ही सिद्ध होते हैं, किन्तु पूर्व भव-लिंग की अपेक्षा से स्व-लिंग ही सिद्ध होते हैं। पुन: द्रव्य-लिंग अर्थात् बाह्य वेश की अपेक्षा से स्व-लिंग, अन्य-लिंग और गृह-लिंग तीनों ही विकल्प से सिद्ध होते हैं।

तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् तत्त्वार्थ की दिगम्बर परम्परा की टीकाओं में सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि वेद की दृष्टि से तीनों वेदों के अभाव में ही सिद्धि होती है। द्रव्य-लिंग अर्थात् शारीरिक संरचना की दृष्टि से पुल्लिंग ही सिद्ध होते हैं किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से तो सग्रन्थलिंग से भी सिद्धि होती है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि मुक्ति पुरुष लिंग से ही प्राप्त हो सकती है। उसके पश्चात् राजवार्तिककार अकलंक भी सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख का ही समर्थन करके रह जाते हैं। उससे अधिक वे भी कुछ नहीं कहते हैं।[८]

श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यकमूलभाष्य (पाँचवीं शती), विशेषावश्यकभाष्य (छठीं शती) और आवश्यकचूर्णि (सातवीं शती) में हमें अचेलकत्व और सचेलकत्व के प्रश्न को लेकर आर्य शिवभूति और आर्य कृष्ण के मध्य हुए विवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष के विविध तर्कों का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु चूर्णि के काल तक अर्थात् सातवीं शताब्दी के अन्त तक हमें एक भी संकेत ऐसा नहीं मिलता, जिसमें श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन किया हो। इससे ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी तक उन्हें इस तथ्य की जानकारी भी नहीं थी कि स्त्रीमुक्ति के सन्दर्भ में कोई प्रतिपक्ष भी है। स्त्री की प्रव्रज्या (महाव्रतारोपण) और स्त्रीमुक्ति का निषेध सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने लगभग छठी शताब्दी में किया और उस सम्बन्ध में अपने कुछ तर्क भी दिये। पूज्यपाद ने स्त्रीमुक्ति का निषेध तो किया, फिर भी उन्होंने स्त्रीमुक्ति के खण्डन के सन्दर्भ में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम सुत्तपाहुड में यह कहा है कि जिन-मार्ग में सवस्त्र की मुक्ति नहीं हो सकती चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो?[९] सवस्त्र की मुक्ति के निषेध में स्त्रीमुक्ति का निषेध गर्भित है, क्योंकि स्त्री निर्वस्त्र नहीं हो सकती है। स्त्री को महाव्रतारोपण अर्थात् प्रव्रज्या क्यों नहीं हो सकती इसके सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इसके कुक्षि (गर्भाशय), नाभि और स्तन में सूक्ष्म जीव होते हैं, इसलिए उसकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है?[१०] पुन: यह भी कहा गया है कि उसमें मन की पवित्रता नहीं होती, वे अस्थिरमना होती हैं तथा उनमें रजस्राव होता है इसलिये उनका ध्यान चिन्तारहित नहीं हो सकता।[११]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में ही स्त्रीमुक्ति का तार्किक खण्डन उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में दिगम्बर परम्परा में स्त्रीमुक्ति का तार्किक निषेध छठीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व इस परम्परा में इस सम्बन्ध में क्या मान्यता थी, यह जानने का हमारे पास कोई स्रोत नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में सातवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति के इस तार्किक निषेध का कहीं कोई खण्डन किया गया हो, ऐसी सूचना भी उपलब्ध नहीं होती। सम्भवत: सातवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर आचार्य किसी ऐसी परम्परा से अवगत ही नहीं थे जो स्त्रीमुक्ति का निषेध करती थी। स्त्रीमुक्ति के निषेधक तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर श्वेताम्बरों ने नहीं, अपितु अचेलकत्व की समर्थक यापनीय परम्परा ने ही दिया। चूँकि कुन्दकुन्द दक्षिण में हुए थे और यापनीय भी दक्षिण में ही उपस्थित थे, अत: पहली चोट भी उन्हीं पर हुई थी और पहला प्रत्युत्तर भी उन्हें ही देना पड़ा था। इस प्रकार सर्वप्रथम लगभग सातवीं शती में यापनीयों ने इसका प्रत्युत्तर दिया था। यापनीय सम्प्रदाय के इन तर्कों का अनुसरण परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी किया। श्वेताम्बर आचार्यों में सर्वप्रथम हरिभद्र ने आठवीं शती में ललितविस्तरा में स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया है, किन्तु उन्होंने भी अपनी ओर से कोई तर्क न देकर इस सम्बन्ध में यापनीयतन्त्र नामक (वर्तमान में अनुपलब्ध) किसी यापनीय प्राकृत ग्रन्थ को उद्धृत मात्र किया है। इससे ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द ने लगभग छठी शताब्दी में स्त्रीमुक्ति के निषेध के सन्दर्भ में जो तर्क दिये थे, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डन यापनीयों ने लगभग सातवीं शताब्दी में किया और यापनीयों के तर्कों को गृहीत करके ही आठवीं शताब्दी से श्वेताम्बर परम्परा में भी स्त्रीमुक्ति निषेध दिगम्बर परम्परा का खण्डन किया जाने लगा। यापनीयतन्त्र के पश्चात् स्त्रीमुक्ति के समर्थन में सर्वप्रथम यापनीय आचार्य शाकटायन ने लगभग नवीं शती में 'स्त्री-निर्वाण-प्रकरण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। इसके बाद दोनों ही परम्पराओं में स्त्रीमुक्ति के पक्ष एवं विपक्ष में लिखा जाने लगा। स्त्रीमुक्ति के पक्ष में श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र (आठवीं शती) के पश्चात् अभयदेव (ई० सन् १०००), शान्तिसूरि (ई० सन् ११२०), मलयगिरि (ई० सन् ११५०), हेमचन्द्र (ई० सन् ११६०), वादिदेव (ई० सन् ११७०), रत्नप्रभ (ई० सन् १२५०), गुणरत्न (ई० सन् १४००), यशोविजय (ई० सन् १६६०), मेघविजय (ई० सन् १७००) ने अपनी कलम चलाई। दूसरी ओर स्त्रीमुक्ति के विपक्ष में दिगम्बर परम्परा में वीरसेन (लगभग ई० सन् ८००), देवसेन (ई० सन् ९८०), नेमिचन्द (ई० सन् १०५०), प्रभाचन्द (ई० सन् ९८०-१०६५), जयसेन (ई ० सन् ११५०), भावसेन (ई० सन् १२७५) आदि ने अपनी लेखनी चलाई।[१२] यहाँ हमारे लिये उन सबकी विस्तृत चर्चा करना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में हम यापनीय आचार्यों के कुछ प्रमुख तर्कों का उल्लेख करके इस विषय को विराम देंगे। जो पाठक इस सम्बन्ध में विशेष जानने को इच्छुक हों, उन्हें प्रो० पद्मनाभ जैनी के ग्रन्थ (Gender Salvation) को देखना चाहिये।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख तो मिलते हैं किन्तु उनमें कहीं भी उसका तार्किक समर्थन नहीं हुआ है। दिगम्बर परम्परा में स्त्रीमुक्ति का सर्वप्रथम तार्किक खण्डन कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है। कुन्दकुन्द ने इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यही तर्क दिया था कि जिनशासन में वस्त्रधारी सिद्ध नहीं हो सकता चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो?[१३] इससे ऐसा लगता है कि स्त्रीमुक्ति के निषेध की आवश्यकता तभी हुई जब अचेलता को ही एक मात्र मोक्षमार्ग मान लिया गया। हमें यहां कहने में संकोच नहीं है कि अचेलता के एकान्त आग्रह ने ही इस अवधारणा को जन्म दिया, क्योंकि शारीरिक आवश्यकता एवं सामाजिक मर्यादा के कारण स्त्री नग्न नहीं रह सकती। नग्न हुए बिना मुक्ति नहीं होती, इसलिये स्त्री मुक्त नहीं हो सकती। इसी आग्रह के कारण गृहस्थलिंगसिद्ध और अन्यलिंगसिद्ध (सग्रन्थ-मुक्ति) की आगमिक अवधारणा का निषेध भी आवश्यक हो गया। आगे चलकर जब स्त्री को प्रव्रज्या के अयोग्य बताने के लिये तर्क आवश्यक हुए, तो यह कहा गया कि यदि स्त्री, दर्शन से शुद्ध तथा मोक्षमार्ग से मुक्त होकर घोर चारित्र का पालन कर रही हो, तो भी उसे प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती।[१४] वास्तविकता यह है कि जब प्रव्रज्या को अचेलता से भी जोड़ दिया गया तब यह कहना आवश्यक हो गया कि स्त्री पंचमहाव्रत रूप दीक्षा की अधिकारिणी नहीं है। यह भी प्रतिपादन किया गया कि जो सवस्त्रलिंग है वह श्रावकों का है। अत: क्षुल्लक एवं ऐलक के साथ-साथ आर्यिका की गणना भी श्रावक/श्राविका के वर्ग में की गई। अचेल परम्परा में भी कुन्दकुन्द के पूर्व स्त्रियाँ दीक्षित होती थीं और उनको महाव्रत भी प्रदान किये जाते थे। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य प्रतीत होते हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्त्री की प्रव्रज्या का निषेध किया था और यह तर्क दिया था कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही शिथिल परिणाम वाली होती हैं, इसलिये उनके चित्त की विशुद्धि सम्भव नहीं है। साथ ही यह भी कहा गया कि स्त्रियाँ मासिक धर्म वाली होती हैं, अत: स्त्रियों में नि:शंका ध्यान सम्भव नहीं है।[१५] यह सत्य है कि शारीरिक तथा सामाजिक कारणों में पूर्ण नग्नता स्त्री के लिये सम्भव नहीं है और जब सवस्त्र की प्रव्रज्या एवं मुक्ति का निषेध कर दिया गया तो स्त्रीमुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य परिणाम था ही। पुन: आचार्य कुन्दकुन्द ने अपरिग्रह के साथ-साथ स्त्री के द्वारा अहिंसा का पूर्णत: पालन भी असम्भव माना। उनका तर्क है कि स्त्रियों के स्तनों के अन्दर में, नाभि एवं कुक्षि (गर्भाशय) में सूक्ष्मकायं जीव होते हैं। इसलिये उनकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है।[१६] यहाँ यह स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे वस्तुत: स्त्री की प्रव्रज्या के निषेध के लिये हैं। स्त्रीमुक्ति का निषेध तो उसका अनिवार्य फलित अवश्य है क्योंकि जब अचेलता ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग है और स्त्री के लिये अचेलता सम्भव नहीं है तो फिर उसके लिये न तो प्रव्रज्या सम्भव होगी और न ही मुक्ति।

हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द के इन तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर सम्भवत: यापनीय परम्परा के 'यापनीयतन्त्र' (यापनीय-आगम) नामक ग्रन्थ में दिया गया है। वर्तमान में यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु इसका वह अंश जिसमें स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया गया है, हरिभद्र के ललितविस्तरा में उद्धृत होने से सुरक्षित है। उसमें कहा गया है कि स्त्री अजीव नहीं है, न वह अभव्य है, न सम्यग्दर्शन के अयोग्य है, न अमनुष्य है, न अनार्यक्षेत्र में उत्पन्न है, न असंख्यात आयुष्यवाली है, न वह अतिक्रूरमति है, न उपशान्त-मोह है, न अशुद्धाचारी है, न अशुद्धशरीरा है, न वह वर्जित व्यवसायवाली है, न अपूर्वकरण की विरोधी है, न नवें गुणस्थान से रहित है, न लब्धि से रहित है और न अकल्याण भाजन है तो फिर वह उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष की आराधक क्यों नहीं हो सकती?[१७]

आचार्य हरिभद्र ने उक्त यापनीय सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या भी की है। वे लिखते हैं—जीव ही सर्वोत्तम धर्म, मोक्ष की साधना कर सकता है और स्त्री जीव है, इसलिये वह सर्वोत्तम धर्म की आराधक क्यों नहीं हो सकती? यदि यह कहा जाय कि सभी जीव तो मुक्ति के अधिकारी नहीं है जैसे अभव्य, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो अभव्य भी नहीं होती। पुन: यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सभी भव्य भी तो मोक्ष के अधिकारी नहीं है। जैसे—मिथ्यादृष्टि-भव्यजीव, तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ तो सम्यक् दर्शन के अयोग्य भी नहीं कही जा सकतीं। यदि इस पर यह कहा जाय कि स्त्री के सम्यग्दृष्टि होने से क्या होता है, पशु भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है, किन्तु वह तो मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है। इस पर यापनीयों का प्रत्युत्तर यह है कि स्त्री पशु नहीं, मनुष्य है। पुन: यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपत्ति उठाई जा सकती है कि सभी मनुष्य भी तो सिद्ध नहीं होते, जैसे अनार्य-क्षेत्र में या भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्य। इसका प्रत्युत्तर यह है कि स्त्रियाँ आर्य देश में भी तो उत्पन्न होती हैं। यदि यह कहा जाय कि आर्य देश में उत्पन्न होकर भी असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले अर्थात् योगलिक मुक्ति के योग्य नहीं होते, तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाली भी नहीं होतीं। पुन: यदि यह तर्क दिया जाय कि संख्यात वर्ष की आयु वाले होकर भी जो अतिक्रूरमति हों, वे भी मुक्ति के पात्र नहीं होते तो इसका उत्तर यह है कि सभी स्त्रियाँ अतिक्रूरमति भी नहीं होतीं क्योंकि स्त्रियों में तो सप्तम नरक की आयुष्य बाँधने योग्य तीव्र रौद्रध्यान का अभाव होता है। यह उसमें अतिक्रूरता के अभाव का तथा उसके करुणामय स्वभाव का प्रमाण है और इसलिये उसमें मुक्ति के योग्य प्रकृष्ट शुभभाव का अभाव नहीं माना जा सकता। पुन: यदि यह कहा जाय कि स्वभाव से करुणामय होकर भी जो मोह को उपशान्त करने में समर्थ नहीं होता, वह भी मुक्ति का अधिकारी नहीं होता, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कुछ स्त्रियाँ मोह का उपशमन करती हुई देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि मोह का उपशान्त करने पर भी यदि कोई व्यक्ति अशुद्धाचारी है, तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तो इसके निराकरण के लिये कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ अशुद्धाचारी (दुराचारी) नहीं होतीं। इस पर यदि कोई तर्क करे कि शुद्ध आचार वाली होकर भी स्त्रियाँ शुद्ध शरीर वाली नहीं होती, इसलिये वे मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, तो इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि सभी स्त्रियाँ तो अशुद्ध शरीर वाली नहीं होतीं। पूर्व कर्मों के कारण कुछ स्त्रियों की कुक्षि, स्तन-प्रदेश आदि अशुचि से रहित भी होते हैं। यह तर्क कुन्दकुन्द की अवधारणा का स्पष्ट प्रत्युत्तर है। पुन: शुद्ध शरीर वाली होकर भी यदि स्त्री परलोक हितकारी प्रवृत्ति से रहित हो तो मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा भी नहीं देखा जाता। कुछ स्त्रियाँ परलोक सुधारने के लिये प्रयत्नशील भी देखी जाती हैं। यदि यह कहा जाय कि परलोक हितार्थ प्रवृत्ति करने वाली स्त्री भी यदि अपूर्वकरण आदि से रहित हो, तो मुक्ति के योग्य नहीं हैं। किन्तु शास्त्र में स्त्री भाव के साथ अपूर्वकरण का भी कोई विरोध नहीं दिखलाया गया है। इसके विपरीत शास्त्र में स्त्री में भी अपूर्वकरण का सद्भाव प्रतिपादित है। पुन: यदि यह कहा जाय कि अपूर्वकरण से युक्त होकर भी यदि कोई स्त्री नवम गुणस्थान को प्राप्त करने में अयोग्य हो तो वह मुक्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकती। किन्तु आगम में स्त्री में नवम गुणस्थान का भी सद्भाव प्रतिपादित है। पुन: यदि यह तर्क दिया जाय कि नवम गुणस्थान को प्राप्त करने में समर्थ होने पर भी यदि स्त्री में लब्धि प्राप्त करने की योग्यता नहीं है तो वह कैवल्य आदि को प्राप्त नहीं कर पाती है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि वर्तमान में भी स्त्रियों में आमर्ष-लब्धि अर्थात् शरीर के मलों का औषधि रूप में परिवर्तित हो जाना आदि लब्धि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अत: वह लब्धि से रहित भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री लब्धि योग्य होने पर भी कल्याण-भाजन न हो तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकेगी। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि स्त्रियाँ कल्याण-भाजन होती हैं, क्योंकि वे तो तीर्थङ्करों को जन्म देती हैं। अत: स्त्री उत्तम धर्म अर्थात् मोक्ष की अधिकारिणी हो सकती है। हरिभद्र ने इसके अतिरिक्त सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा करते हुए सिद्धप्राभृत का भी एक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। सिद्धप्राभृत में कहा गया है कि सबसे कम स्त्री-तीर्थङ्कर (तीर्थङ्करी) सिद्ध होती हैं।[१८] उनकी अपेक्षा स्त्री तीर्थङ्कर के तीर्थ में नौ तीर्थङ्कर सिद्ध असंख्यातगुणा अधिक होते हैं। उनकी अपेक्षा स्त्री तीर्थङ्कर के तीर्थ में नौ तीर्थङ्करी सिद्ध (स्त्री शरीर से सिद्ध) असंख्यातगुणा अधिक होते हैं। सिद्धप्राभृत (सिद्धपाहुड) एक पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें सिद्धों के विभिन्न अनुयोगद्वारों की चर्चा हुई है। ज्ञातव्य है कि हरिभद्र के समकालीन सिद्धसेनगणि ने अपने तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में सिद्धप्राभृत का एक सन्दर्भ दिया है।[१९] यह ग्रन्थ अनुमानत: नन्दीसूत्र के पश्चात् लगभग सातवीं शती में निर्मित हुआ होगा।

इस प्रकार यापनीय परम्परा में ही सर्वप्रथम स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन करने का प्रयास हुआ है। यह हम पूर्व में ही कह चुके हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन मे जो तर्क दिये हैं वे मुख्यत: यापनीयों का ही अनुसरण हैं। ललितविस्तरा में अपनी ओर से एक भी नया तर्क नहीं दिया गया है, मात्र यापनीयतन्त्र के कथन का स्पष्टीकरण किया गया है । इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति निषेधक परम्परा का ज्ञान यापनीयों के माध्यम से ही हुआ, क्योंकि कुन्दकुन्द की स्त्रीमुक्ति निषेधक परम्परा सुदूर दक्षिण में ही प्रस्थापित हुई थी। अत: उसका उत्तर भी दक्षिण में अपने पैर जमा रही यापनीय परम्परा को ही देना पड़ा।

यापनीय आचार्य शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण-प्रकरण नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना की है। वे अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कहते हैं कि शक्ति और मुक्ति के प्रदाता निर्मल अर्हत् के धर्म को प्रणाम करके मैं संक्षेप में स्त्री-निर्वाण और केवली-भुक्ति को कहूँगा।[२०] इसी ग्रन्थ में शाकटायन कहते हैं कि रत्नत्रय की सम्पदा से युक्त होने के कारण पुरुष के समान ही स्त्री का भी निर्वाण सम्भव है। यदि यह कहा जाय कि स्त्रीत्व, रत्नत्रय की उपलब्धि में वैसे ही बाधक है, जैसे देवत्व आदि, तो यह तुम्हारा अपना कथन हो सकता है। आगम में और अन्य ग्रन्थों में इसका कोई प्रमाण नहीं है। एक साध्वी जिन-वचनों को समझती है, उन पर श्रद्धा रखती है और उनका निर्दोष रूप से पालन करती है, इसलिये रत्नत्रय की साधना का स्त्रीत्व से कोई भी विरोध नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि रत्नत्रय की साधना स्त्रीत्व के लिये अशक्य है तथा जो अदृष्ट अर्थात् अशक्य है उसके साथ असंगति बताने का तो कोई अर्थ ही नहीं है। यदि यह कहा जाय कि स्त्री में सातवें नरक में जाने की योग्यता का अभाव है, इसलिये वह निर्वाण-प्राप्ति के योग्य नहीं है। किन्तु ऐसा अविनाभाव या व्याप्ति सम्बन्ध द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो सातवें नरक में नहीं जा सकता वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता। चरम शरीरी जीव तद्भव में भी सातवें नरक में नहीं जा सकते, किन्तु तद्भव मोक्ष जाते हैं। पुन: ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जितना निम्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गति में जा सकता है, उतना ही उच्च गति में जा सकता है। कुछ प्राणी ऐसे हैं जो निम्न गति में बहुत निम्न स्थिति तक नहीं जाते, किन्तु वे सभी उच्च गति में भी समान रूप से जाते हैं, जैसे सम्मूर्च्छिम जीव प्रथम नरक से आगे नहीं जा सकते, परिसर्प आदि द्वितीय नरक से आगे नहीं जा सकते, पक्षी तृतीय नरक से आगे नहीं जा सकते, चतुष्पद चतुर्थ नरक से आगे नहीं जा सकते, सर्प पंचम नरक से आगे नहीं जा सकते। इस प्रकार निम्न गति में जाने से इन सब में भिन्नता है, किन्तु उच्चगति में ये सभी सहस्रार स्वर्ग तक बिना किसी भेदभाव के जा सकते हैं। इसलिये यह कहना कि जो जितनी निम्न गति तक जाने में सक्षम होता है, वह उतनी ही उच्च गति तक जाने में सक्षम होता है, तर्कसंगत नहीं है। अधोगति में जाने की अयोग्यता से उच्च गति में जाने की अयोग्यता सिद्ध नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि वाद आदि की लब्धि से रहित, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित, जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ और मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त न कर पाने के कारण स्त्री की मुक्ति नहीं हो सकती, तो फिर यह मानना होगा कि जिस प्रकार आगम में जम्बूस्वामी के पश्चात् इन जिन बातों के विच्छेद का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार स्त्री के लिये मोक्ष के विच्छेद का भी उल्लेख होना चाहिये था।

यदि यह माना जाय कि स्त्री दीक्षा की अधिकारिणी न होने के कारण मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है, तो फिर आगमों में दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की सूची में जिस प्रकार शिशु को दुध पिलाने वाली स्त्री तथा गर्भिणी स्त्री आदि का उल्लेख किया गया, उसी प्रकार सामान्य स्त्री का भी उल्लेख किया जाना चाहिये था।

पुनः यदि यह कहा जाय कि वस्त्र धारण करने के कारण स्त्री मोक्ष-प्राप्ति की अधिकारिणी नहीं है अथवा दूसरे शब्दों में वस्त्ररूपी परिग्रह ही उसकी मुक्ति में बाधक है तो फिर प्रतिलेखन का ग्रहण आदि भी मुक्ति में बाधक क्यों नहीं होंगे? यदि प्रतिलेखन का ग्रहण, उसका संयम उपकरण होने के कारण परिग्रह के अन्तर्गत नहीं माना जाता है तो स्त्री के लिये वस्त्र भी जिनोपदिष्ट संयमोपकरण है, अतः उसे परिग्रह कैसे माना जा सकता है?

यद्यपि वस्त्र परिग्रह है, फिर भी भगवान् ने साध्वियों के लिये संयमोपकरण के रूप में उसको ग्रहण करने की अनुमति दी है, क्योंकि वस्त्र के अभाव में उनके लिये सम्पूर्ण चारित्र का ही निषेध हो जायेगा, अतः वस्त्र धारण करने में अल्प दोष होते हुए भी संयम पालन हेतु उसकी अनुमति दी गई है। जो संयम के पालन में उपकारी होता है, वह धर्मोपकरण या संयमोपकरण कहा जाता है, परिग्रह नहीं। अतः निर्ग्रन्थी का वस्त्र संयमोपकरण है, परिग्रह नहीं।

आगमों में साध्वी के लिये निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। यदि यह माना जाय कि वस्त्र ग्रहण परिग्रह ही है तो फिर आगम में उसके लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये था, क्योंकि निर्ग्रन्थ का अर्थ है परिग्रह से रहित। यदि संयमोपकरण परिग्रह है तो फिर कोई मुनि भी निर्ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यदि एक व्यक्ति वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित भी है किन्तु उसके मन में उनके प्रति कोई ममत्व नहीं हो तो वह अपरिग्रही कहा जायेगा। इसके विपरीत एक व्यक्ति जो नग्न रहता है किन्तु उसमें ममत्व और मूर्च्छा का भाव है तो वह अचेल होकर भी परिग्रही ही कहा जायेगा। साध्वी इसलिये वस्त्र धारण नहीं करती है कि उसमें वस्त्र के प्रति कोई ममत्व है अपितु वह वस्त्र को जिनाज्ञा मानकर ही धारण करती है। पुनः वस्त्र उसके लिये उसी प्रकार परिग्रह नहीं है, जिस प्रकार यदि किसी ध्यानस्थ नग्नमुनि के शरीर पर उपसर्ग के निमित्त से डाला गया वस्त्र उस मुनि के लिये परिग्रह नहीं होता। इसके विपरीत एक नग्न व्यक्ति भी यदि अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव रखता है तो वह परिग्रही ही कहा जायेगा और ऐसा व्यक्ति नग्न होकर भी मोक्ष-प्राप्ति के अयोग्य ही होता है। जबकि वह व्यक्ति जिसमें ममत्वभाव का पूर्णतः अभाव है, शरीर धारण करते हुए भी अपरिग्रह ही कहा जायगा। अतः जिनाज्ञा के कारण संयमोपकरण के रूप में वस्त्र धारण करते हुए भी नियमवान स्त्री अपरिग्रही ही है और मोक्ष की अधिकारिणी भी।

जिस प्रकार जन्तुओं से व्याप्त इस लोक में मुनि के द्वारा द्रव्य-हिंसा होती रहने पर भी कषाय के अभाव में वह अहिंसक ही माना जाता है, उसी प्रकार वस्त्र के सद्भाव में भी निर्ममत्व के कारण साध्वी अपरिग्रही मानी जाती है। यह ज्ञातव्य है कि यदि हम हिंसा और अहिंसा की व्याख्या बाह्य घटनाओं अर्थात् द्रव्य-हिंसा (जीवघात) के आधार पर न करके व्यक्ति के मनोभावों अर्थात् कषायों की उपस्थिति के आधार पर करते हैं, तो फिर परिग्रह के लिये भी यही कसौटी माननी होगी। यदि हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषाय एवं प्रमाद का अभाव होने से मुनि अहिंसक ही रहता है, तो फिर वस्त्र के होते हुए भी मूर्च्छा के अभाव में साध्वी अपरिग्रही क्यों नहीं मानी जा सकती है।

स्त्री का चारित्र वस्त्र के बिना नहीं होता ऐसा अर्हत् ने कहा है। तो फिर स्थविरकल्पी आदि के समान उसकी मुक्ति क्यों नहीं हो सकती? ज्ञातव्य है कि स्थविरकल्पी मुनि भी जिनाज्ञा के अनुरूप वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करते हैं। पुनः अर्श, भगन्दर आदि रोगों में जिनकल्पी अचेल मुनि को भी वस्त्र ग्रहण करना होता है अतः उनकी भी मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती।

पुनः अचेलकत्व उत्सर्ग-मार्ग है, यह बात जब तक सिद्ध नहीं होगी तब तक सचेल मार्ग को अपवाद मार्ग नहीं माना जायेगा। उत्सर्ग भी अपवाद सापेक्ष है । अपवाद के अभाव में उत्सर्ग, उत्सर्ग नहीं रह जाता। यदि अचेलता उत्सर्ग-मार्ग है तो सचेलता भी अपवाद-मार्ग है, दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई भी नहीं हैं। अतः दोनों से ही मुक्ति माननी होगी।

पुनः जिस तरह आगमों में आठ वर्ष के बालक आदि की दीक्षा का निषेध किया गया है, उसी प्रकार आगमों में यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति तीस वर्ष की आयु को पार कर चुका हो और जिसकी दीक्षा को उन्नीस वर्ष व्यतीत हो गये हों, वही जिनकल्प की दीक्षा का अधिकारी है। यदि मुक्ति के लिये जिनकल्प अर्थात् नग्नता आवश्यक होती, तो यह भी कहा जाना चाहिए था कि तीस वर्ष मे कम उम्र का व्यक्ति मुक्ति के अयोग्य है। किन्तु सभी परम्पराएँ एक मत से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मानती हैं कि मुक्ति के लिये तीस वर्ष की आयु होना आवश्यक नहीं है। सामान्य रूप से इसका अर्थ हुआ कि जिनकल्प अर्थात् नग्नता के बिना भी मुक्ति सम्भव है, अत: स्त्रीमुक्ति सम्भव है।

आगमों में संवर और निर्जरा के हेतु रूप बहुत प्रकार की तप विधियों का निर्देश है। जिस प्रकार योग और चिकित्सा की अनेक विधियाँ होती हैं और व्यक्ति की अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें से कोई एक ही विधि उपकारी सिद्ध होती है, सबके लिये एक ही विधि उपकारी सिद्ध नहीं होती; उसी प्रकार आचार में भी कोई जिनकल्प की साधना के योग्य होता है तो कोई स्थविरकल्प की साधना के। इसलिये वस्त्र का त्याग होने से स्त्री के लिये मोक्ष का अभाव नहीं है, क्योंकि मोक्ष के लिये तो रत्नत्रय के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात आवश्यक नहीं है।

पुन: स्त्री की नग्नदीक्षा का निषेध कर देने का अर्थ भी उसकी मुक्ति की योग्यता का निषेध नहीं है, क्योंकि जिनशासन की प्रभावना के लिये उन व्यक्तियों की प्रव्रज्या का निषेध भी किया जाता है जो रत्नत्रय के पालन में सक्षम होते हैं। तात्पर्य है कि किसी के अचेल दीक्षा के निषेध से उसकी मुक्ति का निषेध सिद्ध नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि स्त्रियाँ इसलिये सिद्ध नहीं हो सकती हैं क्योंकि वे मुनियों के द्वारा वन्दनीय नहीं होतीं, जैसा कि आगम में कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षिता साध्वी भी एक दिन के नव दीक्षित मुनि को वन्दन करे। इसके प्रत्युत्तर में शाकटायन कहते हैं कि मुनि के द्वारा वन्दनीय न होने से उन्हें मोक्ष के अयोग्य मानोगे तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि अर्हत् (तीर्थङ्कर) के द्वारा वन्दनीय न होने से कोई भी व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं होगा क्योंकि अर्हत् तो किसी को भी वन्दन नहीं करता है। इसी प्रकार स्थविरकल्पी मुनि, जिनकल्पी मुनि के द्वारा वन्दनीय नहीं हैं, अत: यह भी मानना होगा कि स्थविरकल्पी मुनि भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार जिन, गणधर को वन्दन नहीं करते हैं, अत: गणधर भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। यह लौकिक व्यवहार मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो व्रत-पालन है और व्रत-पालन में स्त्री-पुरुष समान ही माने गए हैं।

सभी सांसारिक विषयों में तो स्त्रियाँ पुरुषों से निम्न ही मानी जाती हैं। अत: मोक्ष के सम्बन्ध में भी उन्हें निम्न ही क्यों नहीं माना जाना चाहिए? तीर्थङ्कर पद भी तो केवल पुरुष को ही प्राप्त होता है इसलिए पुरुष ही मुक्ति का अधिकारी है। इसके प्रत्युत्तर में यापनीयों का तर्क यह है कि तीर्थङ्कर तो केवल क्षत्रिय होते हैं, ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य तो तीर्थङ्कर नहीं होते, तो फिर क्या यह माना जाय कि ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य मुक्ति के अधिकारी नहीं होते? पुन: सिद्ध न तो स्त्री है, न पुरुष। अत: सिद्ध का लिंग से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

यदि यह तर्क दिया जाय कि स्त्रियाँ कपटवृत्ति वाली या मायावी होती हैं तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि व्यवहार में तो पुरुष भी मायावी देखे जाते हैं।

पुन: यदि यह कहा जाय कि पुरुष के समान स्त्रियों का कोई भी सिद्ध-क्षेत्र उल्लिखित नहीं है तो यह बात अनेक पुरुषों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सभी पुरुषों के सिद्ध-क्षेत्र तो प्रसिद्ध नहीं हैं।

यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाय कि स्त्रियों में पुरुषार्थ की कमी होती है इसलिये वे मुक्ति की अधिकारिणी नहीं हैं, किन्तु हम देखते हैं कि आगमों में ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमति, चन्दना आदि अनेक स्त्रियों के उल्लेख हैं जो पुरुषार्थ और साधना में पुरुषों से कम नहीं थीं। अत: यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है।

पुन: एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि जो व्यक्ति बहुत पापी और मिथ्यादृष्टिकोण से युक्त होता है वही स्त्री के रूप में जन्म लेता है। सम्यग्दृष्टि प्राणी स्त्री के रूप में जन्म ही नहीं लेता। तात्पर्य यह है कि स्त्री-शरीर का ग्रहण पाप के परिणामस्वरूप होता है इसलिये स्त्री-शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है। साथ ही दिगम्बर परम्परा यह भी मानती है कि एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति स्त्री, पशु-स्त्री, प्रथम नरक के बाद के नरक, भूत-पिशाच आदि और देवी के रूप में जन्म नहीं लेता। पापी आत्मा ही इन शरीरों को धारण करता है। अत: स्त्री-शरीर मुक्ति के योग्य नहीं है। इस सम्बन्ध में यापनीयों का कथन है कि दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता प्रमाणरहित है। दूसरे जब सम्यग्दर्शन का उदय होता है, तब सभी कर्म मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति के रह जाते हैं, ६९ कोटाकोटि सागरोपम स्थिति के कर्म तो मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी समाप्त कर सकता है। अत: सम्यग्दर्शन का उदय होने पर स्त्रियाँ अवशिष्ट मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम के कर्मों को क्यों क्षय नहीं कर सकती? फिर भी स्त्री में कर्म-क्षय करने की शक्ति का अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है।

पुन: आगमों में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख भी हैं। मथुरागम में कहा गया है कि एक समय में अधिकतम १०८ पुरुष, २० स्त्रियाँ और १० नपुंसक सिद्ध हो सकते हैं।[२१] ज्ञातव्य है कि यह उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र का है, जिसकी माथुरीवाचना यापनीयों को भी मान्य थी। इसके अतिरिक्त आगम में स्त्री के १४ गुणस्थान कहे गये हैं। सम्भवत: शाकटायन का यह निर्देश षट्खण्डागम के प्रसंग में है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम दिगम्बरों को भी मान्य है। इस वचन के प्रति दिगम्बर परम्परा का यह कहना है कि यहाँ स्त्री से तात्पर्य भावस्त्री (स्त्रीवेदी जीव) अर्थात् उस पुरुष से है जिसका स्वभाव स्त्रैण हो। इस सम्बन्ध में शाकटायन का प्रत्युत्तर यह है कि किसी शब्द का दूसरा गौण अर्थ होते हुए भी, जब तक उस सन्दर्भ में उसका प्रथम अर्थ उपयुक्त हो तब तक दूसरा गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता। प्रत्येक शब्द का अपना एक निश्चित रूढ़ अर्थ होता है और बिना पर्याप्त कारण के उस निश्चित रूढ़ अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता। पुन: जब तक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ या रूढ़ अर्थ ग्राह्य है, तब तक दूसरा अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री शब्द स्त्रीशरीरधारी अर्थात् स्तन, गर्भाशय आदि से युक्त प्राणी के लिये ही प्रयुक्त होता है। यहाँ (षट्खण्डागम के प्रस्तुत प्रसंग में) स्त्री शब्द का अन्य कोई अर्थ उसी प्रकार निरर्थक है जैसे कोई अग्निपुत्र नामक व्यक्ति का अर्थ अग्नि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न पुत्र करे। पुन: जब आगमों में यह कहा जाता है कि स्त्री छठें नरक से आगे नहीं जाती, वहाँ आप स्त्री शब्द को उसके मुख्य अर्थ में लें और आगे जब आगम में यह कहा जाये कि स्त्री में चौदह गुणस्थान होते हैं तो वहाँ स्त्री को उसके गौण अर्थ अर्थात् भावस्त्री के रूप में लें, यह उचित नहीं है। शाकटायन यहाँ स्पष्ट रूप से वीरसेन के षट्खण्डागम के सत्प्ररूपणाखण्ड के ९३वें सूत्र की व्याख्या पर कटाक्ष करते हुए प्रतीत होते हैं। षट्खण्डागम में सत्प्ररुपणा की गतिमार्गणा में यह कहा गया है कि पर्याप्त मनुष्यनी में संयतासंयत, संयत आदि गुणस्थान होते हैं। वीरसेन ने यहाँ मनुष्यनी शब्द की भाव-स्त्री या स्त्री-वेदी पुरुष ऐसी जो व्याख्या की है, वह शाकटायन को स्वीकार्य नहीं है। शाकटायन का स्पष्ट मत है कि आगम (षट्खण्डागम) में जो मनुष्यनी शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ उसका मुख्य अर्थ 'स्त्री' ही ग्राह्य है। ज्ञातव्य है कि यहाँ मनुष्यनी का अर्थ स्त्रीवेदी पुरुष (स्त्रैण-पुरुष) इसलिए भी ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि यह चर्चा गतिमार्गणा के सन्दर्भ में है, वेदमार्गणा के सम्बन्ध में नहीं है। वेदमार्गणा की चर्चा तो आगे की ही गई है। अत: प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मनुष्यनी' का अर्थ स्त्री-वेदी मनुष्य/भाव-स्त्री नहीं किया जा सकता है।

पुन: स्त्रीवेद (कामवासना) की उपस्थिति में तो मुक्ति सम्भव ही नहीं होती है, वेद तो नवें गुणस्थान में ही समाप्त हो जाता है। किन्तु स्त्रीवेद शरीर की उपस्थिति में सम्भव है, क्योंकि शरीर तो चौदहवें गुणस्थान अर्थात मुक्ति के लक्षण तक रहता है।

पुन: पुरुष शरीर में स्त्रीवेद अर्थात् पुरुष द्वारा भोगे जाने सम्बन्धी काम-वासना अथवा स्त्री-शरीर में पुरुषवेद अर्थात् स्त्री को भोगने सम्बन्धी काम-वासना का उदय मानना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। यदि यह माना जायेगा कि पुरुष की आंगिक संरचना में स्त्री रूप से भोगे जाना और स्त्री की शारीरिक रचना में पुरुष रूप से स्त्री को भोग करना सम्भव होता है तो फिर समलिंगी विवाह-व्यवस्था को भी मानना होगा। साथ ही यदि पुरुष में स्त्रीवेद का उदय अर्थात् दूसरे पुरुष के द्वारा स्त्री रूप में भोगे जाने सम्बन्धी कामवासना का उदय सम्भव मानेंगे, तो फिर मुनियों का परस्पर साथ में रहना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि किसी श्रमण में कब स्त्रीवेद का उदय हो जाय, यह कहना कठिन होगा और स्त्रीवेदी श्रमण के साथ पुरुषवेदी श्रमण का रहना श्रमणाचार नियमों के विरुद्ध होगा। किसी भी व्यक्ति में भिन्न-लिंगी कामवासना का उदय मानना सम्भव नहीं है। व्यवहार में बाह्य शरीर रचना के आधार पर ही निर्णय लिये जाते हैं। समलैंगिक कामप्रवृत्ति या पशु-मनुष्य कामप्रवृत्ति वस्तुत: अप्राकृतिक मैथुन या विकृत कामवासना के रूप हैं. शरीर-रचना से भिन्न वेद (कामवासना) का उदय नहीं होता है। अत: मनुष्यनी शब्द का अर्थ स्तन, योनि आदि से युक्त मनुष्यनी (मानव स्त्री) ही है, न कि स्त्री सम्बन्धी कामवासना से युक्त पुरुष। पुन: इस कथन का कोई प्रमाण भी नहीं है कि पुरुष शरीर-रचना से स्त्रैण कामवासना का उदय होता है। ऐसी स्थिति में यह भी मानना होगा कि स्त्री-शरीर में भी पुरुष सम्बन्धी कामवासना अर्थात् स्त्री को भोगने की इच्छा उत्पन्न होती होगी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में वेद और लिंग अलग-अलग शब्द रहे हैं। लिंग का तात्पर्य शारीरिक संरचना अथवा बाह्य चिह्नों से होता है जबकि वेद का तात्पर्य कामवासना सम्बन्धी मनोभावों से होता है।

सामान्यतया जैसी शरीर-रचना होती है, तद्रूप ही वेद अर्थात् काम-वासना का उदय होता है। यदि किसी व्यक्ति में अपनी शरीर-रचना से भिन्न प्रकार की कामवासना पाई जाती है तो यह मानना होगा कि उस व्यक्ति में पुरुष और स्त्री अर्थात् दोनों प्रकार की कामवासना है। परन्तु आगम की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति नपुंसकलिंगी कहा गया है। जैन-परम्परा में नपुंसक शब्द का तात्पर्य पुरुषत्व से हीन अर्थात् स्त्री का भोग करने में असमर्थ व्यक्ति, ऐसा नहीं है। जैन परम्परा के अनुसार नपुंसक वह है, जिसमें उभयलिंग की कामवासनाएँ उपस्थित हों। पुन: शाकटायन का यह भी कहना है कि यदि किसी पुरुष का काम-व्यवहार दूसरी स्त्री के साथ पुरुषवत् हो तो यह उसकी अपनी विकृत कामवासना का ही रूप है। कभी-कभी तो मनुष्य पशुओं से भी अपनी कामवासना की पूर्ति करते हुए देखे जाते हैं। क्या ऐसी स्थिति में हम यह मानेंगे कि उसमें पशु सम्बन्धी कामवासना है? वस्तुत: यह उसकी अपनी कामवासना का ही एक विकृत रूप है। पुन: यदि यह कहा जाय कि आगम में विगत वेद (भवों) की अपेक्षा से स्त्री में चौदह गुणस्थान माने गए हैं तो फिर विगत भव की अपेक्षा से देव में भी चौदह गुणस्थान सम्भव होंगे, किन्तु आगम में उनमें तो चौदह गुणस्थान नहीं कहे गए हैं। वस्तुत: आगम में जो मनुष्यनी में चौदह गुणस्थानों की सम्भावना स्वीकार की गई है, वह स्त्रीवेद के आधार पर नहीं, अपितु स्त्रीलिंग (स्त्रीरूपी शरीर-रचना) के आधार पर ही है। आगम में गतिमार्गणा के सन्दर्भ में मनुष्यनी में पर्याप्त गुणस्थानों की चर्चा हुई है। अत: मनुष्यनी का अर्थ भावस्त्री अर्थात् स्त्रैण-वासना से युक्त पुरुष करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भाव या वेद की चर्चा तो भिन्न अनुयोगद्वारों में की गई है। अत: आगम (षट्खण्डागम) में मनुष्यनी का अर्थ भाव-स्त्री न होकर द्रव्य-स्त्री ही है और यदि आगमानुसार मनुष्यनी में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं तो फिर उसकी मुक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार यापनीय परम्परा आगमिक आधारों पर स्त्रीमुक्ति की समर्थक रही है।

अन्यतैर्थिक और गृहस्थमुक्ति का प्रश्न

स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ दो अन्य प्रश्न भी जुड़े हुए हैं, वे हैं अन्यतैर्थिक की मुक्ति एवं सवस्त्रमुक्ति (गृहस्थमुक्ति)। यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययनसूत्र जैसे प्राचीन जैन आगमों से स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिकों (अन्य लिंग) और गृहस्थों की मुक्ति को भी स्वीकार किया गया है। उनकी मान्यता यह थी कि व्यक्ति चाहे किसी अन्य परम्परा में दीक्षित हुआ हो या गृहस्थ ही हो, यदि वह समभाव की साधना में पूर्णता प्राप्त कर लेता है, राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागदशा को प्राप्त हो जाता है, तो वह अन्यतैर्थिक या गृहस्थ के वेश में भी मुक्ति को प्राप्त हो सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर की अपेक्षा से स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की तथा वेश की अपेक्षा से स्व-लिंग (निर्ग्रन्थ मुनिवेश),अन्य-लिंग (तापस आदि अन्यतैर्थिक के वेश में)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं गृही-लिंग (गृहस्थवेश) से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।[२२] सूत्रकृतांगसूत्र में नमि, बाहुक, असितदेवल, नारायण आदि ऋषियों के द्वारा अन्य परम्परा के आचार एवं वेशभूषा का अनुसरण करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख है।[२३] ऋषिभाषित में औपनिषदिक, बौद्ध एवं अन्य श्रमण-परम्परा के ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है।[२४] वस्तुत: मुक्ति का सम्बन्ध आत्मा की विशुद्धि से है। उसका बाह्य वेश या स्त्री-पुरुष आदि के शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्वेताम्बर आचार्य रत्नशेखरसूरि कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध या अन्य किसी धर्म-परम्परा का हो, यदि वह समभाव से युक्त है तो मुक्ति अवश्य प्राप्त करेगा।[२५] चूँकि यापनीय भी आगमिक परम्परा के अनुयायी थे, अत: यापनीय शाकटायन ने इस सम्बन्ध में आगम-प्रमाण का उल्लेख किया है। वे स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिकमुक्ति के भी समर्थक थे। किन्तु जब अचेलता को ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग स्वीकार करके मूर्च्छादि भावपरिग्रह के साथ-साथ वस्त्र-पात्रादि द्रव्य-परिग्रह का भी पूर्ण त्याग आवश्यक मान लिया गया तो यह स्वाभाविक ही था कि स्त्रीमुक्ति के निषेध के साथ ही साथ अन्यतैर्थिक और गृहस्थों की मुक्ति का भी निषेध कर दिया गया । दिगम्बर परम्परा में चूँकि अचेलता को ही एकमात्र मोक्ष-मार्ग माना गया था, इसलिये उसने यह माना कि अन्यतैर्थिक या गृहस्थवेश में कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही स्पष्ट रूप से यह मानते रहे कि यदि व्यक्ति की रागात्मकता या ममत्ववृत्ति समाप्त हो गयी है तो बाह्यरूप से वह चाहे गृहस्थवेश धारण किये हुए हो उसकी मुक्ति में कोई बाधा नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य[२६] में तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के सातवें सूत्र का भाष्य करते हुए उमास्वाति ने वेश की अपेक्षा से द्रव्य-लिंग के तीन भेद किये—(१) स्व-लिंग, (२) गृह-लिंग, (३) अन्य-लिंग और यह बताया कि इन तीनों लिंगों से मुक्ति हो भी सकती है, और नहीं भी हो सकती है। इस प्रकार उमास्वाति अन्यतैर्थिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति को विकल्प से स्वीकार करते हैं, किन्तु इसी सूत्र की व्याख्या में पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में द्रव्य-लिंग की दृष्टि से निर्ग्रन्थ-लिंग से ही सिद्धि मानते हैं। यद्यपि उन्होंने यह माना है कि भूतपूर्व नय की अपेक्षा से सग्रन्थ-लिंग से भी सिद्धि होती है।[२७] किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के प्रस्तुत सूत्र (१०/७) में सिद्ध जीवों का क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि की अपेक्षा से जो विचार किया गया है, वह उनके मुक्ति प्राप्त करने के समय की स्थिति के सन्दर्भ में है। अत: भूतपूर्व नय का यहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं है। क्योंकि यदि भूतपूर्व नय से कहना होता तो उसमें तो सभी लिंग, सभी वेद, सभी गति, सभी क्षेत्र आदि से मुक्ति मानी जा सकती थी। भूतपूर्व नय का कथन मात्र आगम और अपनी परम्परा के मध्य संगति बिठाने हेतु किया गया है। फिर भी इससे यह तो फलित होता ही है कि पूज्यपाद के समय में दिगम्बर परम्परा में अन्यतैर्थिक और गृहस्थमुक्ति के निषेध की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गयी थी। पूज्यपाद की सर्वार्थटीका से पहले हमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ की मुक्ति के स्पष्ट निषेध सम्बन्धी कोई भी उल्लेख नहीं मिले हैं। श्वेताम्बर मान्य आगम सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में तो स्पष्ट रूप से इन तीनों की मुक्ति का उल्लेख हआ है, यह हम पूर्व में बता चुके हैं। कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के समय से ही जैन विद्वानों में यह मतभेद अस्तित्व में है। हमारी दृष्टि में कुन्दकुन्द भी पूज्यपाद के समकालीन लगभग छठीं शती के ही हैं। अत: पूज्यपाद के साथ-साथ उन्होंने भी सूत्रप्राभृत[२८] में 'वस्त्रधारी' की मुक्ति का निषेध किया है। वे कहते हैं कि—''यदि तीर्थङ्कर भी वस्त्रधारी हो तो वह भी मुक्त नहीं हो सकता'' इस निषेध में स्त्री, अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ तीनों की मुक्ति का ही निषेध हो जाता है, क्योंकि ये तीनों ही वस्त्रधारी हैं। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द एवं पूज्यपाद के काल से स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थ की मुक्ति का भी निषेध कर दिया गया। वस्तुत: कोई भी धर्म परम्परा जब साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में सिमटती जाती है तो उसमें अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता समाप्त होती जाती है। अन्यतैर्थिकों एवं गृहस्थों की मुक्ति का निषेध इसी का परिणाम था।

परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो भी चर्चाएँ हुईं, वह मुख्य रूप से स्त्रीमुक्ति के प्रश्न को लेकर हुईं। गृहस्थ एवं अन्यतैर्थिक की मुक्ति का प्रश्न वस्तुत: स्त्री के प्रश्न से ही जुड़ा हुआ था। अत: परवर्ती साहित्य में इन दोनों के सम्बन्ध में पक्ष व विपक्ष में कुछ लिखा गया हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[२९] में विद्यानन्द ने एकमात्र तर्क यह दिया है कि 'यदि सग्रन्थ अवस्था में मुक्ति होती है तो फिर परिग्रह-त्याग की क्या आवश्यकता है?' जिस प्रकार यापनीय आचार्य 'शाकटायन' ने और श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र आदि ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में विविध तर्क दिये उसी प्रकार के तर्क गृहस्थ या अन्यतैर्थिक की मुक्ति के सम्बन्ध में यापनीय एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने नहीं दिये हैं। सम्भवत: इसका कारण यही रहा कि जब एक बार सचेल स्त्री की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार की जाती है तो फिर गृहस्थ और अन्यतैर्थिक की मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती, क्योंकि गृहस्थ और अन्यतैर्थिक की मुक्ति का प्रश्न सीधा स्त्रीमुक्ति की समस्या के साथ जुड़ा हुआ था। अत: उस पर स्वतन्त्र रूप से पक्ष व विपक्ष में अधिक चर्चा नहीं हुई है।

जहाँ तक यापनीय परम्परा का प्रश्न है वे स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ गृहस्थ एवं अन्यतैर्थिक की मुक्ति स्वीकार करते थे। यापनीय ग्रन्थों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आचार्य हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश'[३०] में स्पष्ट रूप से गृहस्थमुक्ति का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत से अन्वित और मौनव्रत से समन्वित मुमुक्षु सिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार हरिवंश पुराण[३१] (जिनसेन और हरिषेण) में भी अन्यतैर्थिक की मुक्ति का उल्लेख किया गया है। उसके बयालीसवें सर्ग में नारद को 'अन्त्यदेह' कहा गया है। पुन: उसके पैसठवें सर्ग में तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि ''नरश्रेष्ठ नारद ने प्रव्रजित होकर तपस्या के बल से भवपरम्परा का क्षय करके अक्षय मोक्ष को प्राप्त किया।[३२] इसके विपरीत दिगम्बर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थों में नारद को नरकगामी कहा गया है। इससे यह फलित होता है कि यापनीय परम्परा, श्वेताम्बर परम्परा की ही तरह उदार थी और स्त्रीमुक्ति के साथ-साथ अन्यतैर्थिक एवं गृहस्थों की मुक्ति की सम्भावना को भी स्वीकार करती थी।

सन्दर्भ

१. इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगाः।
सलिंगे अन्न लिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ।।
संपादक-साध्वी चंदनाजी, उत्तराध्ययन, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, ३६/४९.

२. (अ) ज्ञाताधर्मकथा, अष्टम अध्ययन के अन्त में मल्लि के तीर्थङ्कर एवं मुक्त होने का उल्लेख है।
(ब) अन्तकृद्दशांग वर्ग आठ के सभी अध्ययनों के अन्त में स्त्रीमुक्ति के उल्लेख हैं।

३. आवश्यकचूर्णि, भाग १. पृ० १८१ एवं भाग २, पृ० २१२.

४. अष्टप्राभृत सुत्तपाहुड, प्रका० परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, गाथा २३-२६.

५. M.A. Dhaky "The Date of Kundakundacharya", *Aspects of Jainology*, Vol. III, Pt. D.D. Malvania Felicitation Volume, P.V. Research Institute, 1991, p. 187.

६. तत्त्वार्थभाष्य, संपा० पं० खूबचन्द सिद्धान्त शास्त्री, प्रका० श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास १९३२, १०/७.

७. सर्वार्थसिद्धि, संपा०- पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५, १०/९.

८. राजवार्तिक, संपा०- महेन्द्र कुमार जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५३, १०/९.

९. अष्टप्राभृत सुत्तपाहुड, प्रका० परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, गाथा २३.

१०. वही, गाथा २४.

११. वही, गाथा २५-२६

१२. Padmanabh S. Jaini, *Gender and Salvation,* Munshiram Manoharlal Publishers (P) Ltd. New Delhi, 1992, p. 4.

१३. णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसाउम्मग्गया सव्वे ।।
—अष्टप्राभृत, सुत्तपाहुड, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास. गाथा २३।

१४. वही, गाथा २५.

१५. वही, गाथा २६.

१६. वही, गाथा २४.

१७. हरिभद्र ललितविस्तर, प्रका० श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि० सं० १९९०, पृ० ५७-५९.

१८. सव्वत्थोआ तित्थयरिसिद्धा तिथ्थयरितित्थे, णोतित्थयरसिद्धा असंखेज्ज गुण तित्थयरितित्थे, णो तित्थयरिसिद्धा असंखेज्ज गुणओ।
—सिद्धप्राभृत, उद्धृत ललितविस्तरा, पृ० ५६.

१९. अत्थितित्थकरसिद्ध तित्थकरतित्थे, ने तित्थसिद्धा तित्थकर तित्थे, तित्थसिद्धा तित्थकरतित्थे तित्थ सिद्धाणो, तित्थकरीसिद्धा तित्थकरी तित्थणो तित्थसिद्धा तित्थकरी तित्थे तित्थसिद्धा तित्थकरी तित्थे तित्थसिद्धाओ।
तत्त्वार्थाधिमगसूत्र—स्वोपज्ञभाष्येण श्री सिद्धसेनगणिकृत टीकायां च समलंकृतम्, प्रका० जीवचंद साकरचंद झवेरी, सूरत, १९३०, द्वितीय विभाग १०/७, पृ० ३०८

२०. प्रणिपत्य मुक्तिमुक्ति प्रमदमलं धर्ममर्हतो दिशतः।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं संक्षेपात् ।।
शाकटायन व्याकरण, 'स्त्रीमुक्तिप्रकरण', संपा०- हीरालाल जैन एवं ए०एन०उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९७१, श्लोक १, पृ० १२१.

२१. दस चेव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ।। उत्तराध्ययन संपा०- रतनलाल दोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय सैलाना, वीर सं० २४७८, ३६/५१

२२. इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ।। वही, ३६/४९.

२३. सूत्रकृतांगसूत्र, संपा०- मधुकरमुनि, श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर १९८२, १/३/४/१-१.

२४. देवनारदे अरहता इसिणा बुइयं। इसिभासियाइं,
सम्पादक महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर १/१।

२५. सयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य अहेव अन्नो वा।
समभावभाविअप्पा लहेय मुक्खं न संदेहो ।। सम्बोधसत्तरी, २.

२६. लिंगे पुनरन्यो विकल्प उच्यते—द्रव्यलिंग भावलिंग अलिंगमिति। प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापनीय प्राप्तसिद्ध्यति। तत्त्वार्थभाष्य, संपा०-पं० खूबचन्द सिद्धान्त शास्त्री, प्रका० श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९३२, १०/७.

२७. लिंगेन केन सिद्धि? अवेदत्वेन त्रिभ्यों वा वेदभ्यः सिद्धिभवितो न द्रव्यतः पुल्लिंगेनेव। अथवा निर्ग्रन्थलिंगेन। संग्रथलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्व नयापेक्षया। सर्वार्थसिद्धि, सम्पादक फूलचन्द सिद्धान्ताशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९७८, पृ० ४७२.

२८. सूत्रप्राभृत, २३.

२९. साक्षन्निग्रंथालिंगेन पारम्पर्यात्ततोन्यतः साक्षात्सग्रंथलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रन्थता वृथा। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, संपा०- पं० महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, १०/९.

३०. बृहत्कथाकोश, संपा०- ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्याभवन बम्बई, वि० सं० १९९९, ५७/५६२.

३१. अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषायोएप्यसौक्षितौ। हरिवंशपुराण, संपा०- पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६२, ४२/२२.

३२. वही, ६५/२४.

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org